

यौन उत्पीड़न की जमीन को तोड़ना

यौनिक हिंसा के हाइ-प्रोफाइल प्रकरणों पर इन दिनों चल रही राजनीति के बीच हमें स्त्री उत्पीड़न की बुनियादों को नहीं भूलना चाहिए। लगता है जैसे सत्ता-केन्द्रों की आपसी खींचतान कहीं असली मुद्दों को हाइजैक न कर ले! अन्यथा, शीर्ष न्यायालय के जज, अति-महत्वाकांक्षी राजनीतिक, चर्चित मीडिया सम्पादक और भक्तों-सम्पत्तियों के धर्मगुरु को लपेटे में लेनेवाले ये शर्मनाक प्रकरण, स्त्री विरुद्ध हिंसा के व्यापक लैंगिक सन्दर्भों को भी उजागर करते ही हैं; और साथ ही विवशताभरी स्त्री के प्रतिरोधी आयामों को भी। सबक मिलता है कि कार्यस्थल पर होनेवाली यौनिक हिंसा को परिवार व समाज में स्त्री पर होनेवाली रोजमर्रा की लैंगिक हिंसा से अलग-थलग करके न समझा जा सकता है और न उससे निपटा।

विधि, राजनीति, मीडिया, भक्ति के बेहद सफल विशेषज्ञों को यौन आरोपी के रूप में सामने पाना समाज की अपनी सेहत पर भी प्रश्नचिन्ह जैसा लगता है। किसी भी सजग समाज में ऐसे प्रकरणों से एक यह संगत सवाल भी उठना चाहिए कि इन महानुभावों को यौन अपराध का प्रशिक्षण कहाँ से मिला होगा? अपने 35 वर्ष के पुलिस जीवन में मैंने तमाम तरह के अपराधी देखे हैं – नौसिखिये, अनुभवी, शौकिया, पेशेवर, अनगढ़, कलाकार, गुमनाम, मशहूर; यौन उत्पीड़कों में भी ये सारी श्रेणियाँ मिलेंगी। बस उनमें से अधिकांश के चेहरों पर मासूमियत थोड़ी ज्यादा होगी और उत्पीड़ितों के साथ 'सहजीवन' का उनका मादा, भांडा फूटने पर, किसी को भी आश्चर्यचकित कर देगा।

यकीन मानिए कि अन्य क्षेत्रों की तरह अपराध जगत में भी सफलता के लिए प्रशिक्षण की जरूरत होती है। मसलन, कोई कुशल गृहभेदक चोर या मंजाहुआ जेबकतरा या माहिर साइबर ठग या पक्का कांट्रेक्ट किलर वैसे ही नहीं बन जाता; ये गैरकानूनी पेशे भी गहन अभ्यास की मांग करते हैं। खांटी अपराधियों की रवायतें, सीनियर पेशेवरों के साथ महीनों-बरसों लगकर या जेलों में उस्तादों की संगत में परवान चढ़ती हैं। लोग बेखबर बने रहते हैं और उनका घर, उनकी जेब, उनका साइबर-स्पेस, उनकी जान, कुशल अपराधियों की नजर हो जाते हैं। क्या यौन अपराधी भी ऐसे ही नहीं हैं? या हम जानना ही नहीं चाहते कि यौन अपराधी भी लैंगिक हिंसा में प्रशिक्षित लोग हैं - जिन्होंने परिवारों में पुरुष-वर्चस्व का अमित पाठ पढ़ा है और समाज ने जिन्हें उस वर्चस्व को यौनिक उत्पीड़न में उतारने का मंच दिया हुआ है।

क्या यह भी साफ नहीं है कि उपरोक्त चारों मामले मर्द की वक्ती कामुकता/लम्पटता से नहीं बल्कि उसके दीर्घकालीन लैंगिक वर्चस्व से संचालित हैं। इनमें से हर मामले में आरोपी का पीड़ित से रिश्ता अधिकार-सम्पन्नता का है। सभी मामले इसीलिये तूल पकड़ सके क्योंकि उत्पीड़ित स्त्रियों ने एक सीमा तक बर्दाश्त करने के बाद उत्पीड़न के विरुद्ध खुलकर बोलने की हिम्मतभरी पहल दिखाई। हालांकि धर्मगुरुवाले मामले के अलावा, शेष तीनों में लड़कियाँ जागरूक तबकों से हैं, इसके बावजूद, वे आरोपियों को तुरंत पूरी तरह कानूनी जवाबदेही में घसीटने से हिचकती भी रहीं। इन तीनों पीड़ितों के अपने कैरियर की शुरुआती पायदानों पर होने से उन पर अतिरिक्त दबाव रहा। अपने पेशेवर भविष्य को लेकर अनिश्चितता भी उनके आड़े आती रही होगी – एक स्त्री होने के नाते उनकी नियति में एक बड़ा खतरा यह भी निहित है कि ज्यादा भंडा-फोड़ करने पर कहीं उन्हें 'कठिन' मानकर अपने पेशे में उनका अघोषित बहिष्कार न हो जाय।

जबकि इसके बरक्स आरोपियों के लैंगिक अभय को आज भी मुखर समर्थन की कमी नहीं है। केन्द्रीय मंत्री फारूख अब्दुल्ला ने पीड़ितों के कानूनी प्रतिरोध का जिस भाव-भंगिमा में मखौल उड़ाया (अब हमें महिला सेक्रेटरी रखने में डर लगता है), वह भारतीय 'मर्दानगी' की प्रतिनिधि आवाज की तरह आम बहसों में सुनी जा सकती है। अच्छे-अच्छों द्वारा दावा किया जा रहा है कि आरोपियों पर लगे यौनिक हिंसा के आरोपों को उनकी शानदार पेशेवर उपलब्धियों के सन्दर्भ से काटकर नहीं देखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वे सड़कछाप यौन अपराधियों जैसे घटिया लोग नहीं हैं कि उनके आचरण को सार्वजनिक चर्चा का विषय बनाकर उनका अपमान किया जाय। क्या सचमुच? उनका आचरण अन्य यौन अपराधियों से किस रूप में भिन्न कहा जाएगा? देखा जाय तो इन सफेदपोशों का अपराध जघन्यतर ही कहलायेगा। उन्होंने, अचानक नहीं, सोच-समझकर ऐसों का उत्पीड़न किया जो उनके सामने लगभग लाचार हैसियत में थे। उनका अपने पीड़ितों से विश्वास का रिश्ता था जो उन्होंने कलंकित किया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने पेशे को भी कलंकित किया। बचाव में अब जो नैतिक मुखौटे उन्होंने और उनके संस्थानों ने ओढ़े हुए हैं वे भी पीड़ित स्त्री के प्रतिरोध के प्रति उनके अन्दर-भरे लैंगिक तिरस्कार को ही इंगित करते हैं।

दरअसल, इन प्रकरणों से काफी हद तक रेखांकित होता है कि समाज में स्त्री की उपस्थिति बदली है, स्थिति नहीं। जैसे स्त्री का शैक्षणिक या वर्गीय रूप से सशक्त होना उसे यौन-हिंसा से मुक्ति की गारंटी नहीं प्रदान करता, उसी तरह मर्द का सड़कछाप न होकर सफेदपोश होना भी अपने-आप में स्त्री के लिए लैंगिक हिंसा से राहत का सबब नहीं बनता। यह भी उजागर हुआ कि राजनीति या धर्म जैसे पारम्परिक रूप से खालिस मर्दाने क्षेत्र ही नहीं, न्याय और मीडिया के लोकतांत्रिक स्पेस भी स्त्री-उत्पीड़न के विरुद्ध सजग मंच नहीं बन सके हैं। हाँ, इन प्रकरणों में प्रतिरोधी परिवर्तन की दिशा का संकेत भी है - अंततः उत्पीड़ितों द्वारा ही अपने उत्पीड़नों का बेबाक खुलासा, और मीडिया, कानून, नागरिक समाज द्वारा उनका पुरजोर समर्थन। 'चुप्पी' तोड़ने का फैसला पीड़ितों का अपना फैसला रहा; यही उनके काम भी आया। अंधभक्त पारिवारिक पृष्ठभूमि से आयी धर्मगुरुवाली लड़की को मुंह बंद रखने के लिए यह कहकर डराया जाता रहा कि मामला सार्वजनिक होने से उसकी शादी में मुश्किल आयेगी। बेशक उसके समाज में शादी ही उसका कैरियर हो पर जब पानी सर से ऊपर हो गया तो उसीकी बोली ने धर्मगुरु के उत्पीड़क संसार को नंगा किया।

इन चारों मामलों को मीडिया में तूल पकड़ना ही था; यौनिक हिंसा अपने आप में एक बिकाऊ हेडलाइन तो है ही, ऊपर से इन मामलों को सत्ता-केन्द्रों की रस्साकशी ने भी गर्म रखा है। दिसम्बर 2012 दिल्ली बलात्कार कांड के दौर के जन-उभार से उत्पन्न सामाजिक गतिकी की सकारात्मक भूमिका को भी नहीं भूलना चाहिए। उसका भी असर है कि, चारों आरोपियों की हिमायत में शक्तिशाली स्वार्थी की लामबंदी के बावजूद, कानून इन मामलों में कामो-बेश अपनी राह पर चलता रह सका। यौनिक हिंसा के क्षेत्र में स्त्री के लिए एक अनुकूल समीकरण यह भी बनता है कि इस हिंसा से पीड़ित की अस्मिता ही नहीं, उसके यौन पर एकाधिकार जमानेवाले पुरुष की पारंपरिक मर्दानगी भी अपमानित होती है। लिहाजा, आज की बदलती परिस्थितियों में, जब पुरुष अपने-दम 'अपनी' स्त्री की यौन-शुचिता की रक्षा का सामंती दावा नहीं कर पाता, यौन-हिंसा के मामले में उसकी मनःस्थिति स्त्री की प्रतिरोधी पहल के साथ नत्थी हो जाती है।

तो क्या पुरुष के लैंगिक वर्चस्व के सर्वाधिक अपमानजनक रूप, यौनिक हिंसा, को स्त्री द्वारा बर्दाश्त करने के दिन लद गए? उपरोक्त जैसे प्रकरणों के सार्वजनिक होते रहने से अन्य बहुतेरी खामोश पीड़िताओं को भी अपना उत्पीड़न व्यक्त करने की प्रेरणा मिली है। अवश्य ही, लोकतंत्र, मीडिया और कानून के दखल ने, इस क्षेत्र में स्त्री की प्रतिरोधी मुखरता को सशक्त किया है। पर चंद चर्चित मामलों में शक्तिशाली यौन आरोपियों को जवाबदेही के कठघरे में खड़ा कर दिए जाने से हमें इस मुगालते में नहीं

रहना चाहिए कि खुद 'पुरुष वर्चस्व' भी इन संस्थाओं के निशाने पर है। अभी उनके एजेंडे में अपराधी को पकड़ना तो है पर अपराध को जकड़ना नहीं। लिहाजा, दूर-दराज के भारत में ही नहीं, जहां भी लोकतंत्र, मीडिया और कानून का दखल कमजोर है या नदारद है, स्त्री के लिए यौनिक हिंसा को पुरजोर चुनौती दे पाना आज भी दुश्कर बना हुआ है।

क्या गाहे-बगाहे चंद हाइ-प्रोफाइल लोगों की कानूनी दुर्गति औरों के लिए सबक होगी? किसी भी अपराध संसार में ऐसा आंशिकरूप से ही होता है; यौन उत्पीड़न की बंद दुनिया में तो यह बिल्कुल भी नहीं होने जा रहा। कानून का सबक, लैंगिक अभय के परदे की आड़ में सक्रिय यौन अपराधी के मनोवैज्ञानिक धरातल पर अलग तरह से काम करता मिलेगा – उसके लैंगिक अनुकूलन के नजरिये से, स्त्री पर हावी होना उसकी स्वाभाविक प्रकृति है; फिर भी कोई यौन-उत्पीड़न में पकड़ा जाय तो वह उसकी अपनी बेवकूफी या लापरवाही का नमूना ही हुआ। एक यौन अपराधी की सोच की तुलना एक घूसखोर की सोच से की जा सकती है। कार्यस्थलों पर दोनों को एक जैसी पैंतरेबाजी – इस हाथ लो उस हाथ दो - की सुविधा है। दोनों को एक जैसा संस्थानिक संरक्षण - वातावरण की चुप्पी का अभेद्य सुरक्षा-कवच - भी प्राप्त है। अनुभव बताता है कि कार्यस्थलों का हाल भी लैंगिक असमानता के पारिवारिक जंगलों जैसा ही है; उनमें भी यह चुप्पी कभी-कभार ही टूट पाती है।

स्त्री के लिए कदम-कदम पर रुकावटों और खतरों के बीच यौन-रक्षा के कानून उसका नहीं, राज्य का सशक्तीकरण करते हैं। परिवार उसे भौतिक एवं सांस्कृतिक रूप से कमजोर करता है, और समाज उसे स्टीरियोटाइप में कसकर व 'इज्जत' की जवाबदेही लादकर विवश रखता है। कार्यस्थल को उसे मनोविज्ञानी एवं आर्थिक रूप से मजबूत करना चाहिए पर वहाँ की शर्त है यौनिक समझौता। कमाल की बात है कि जहां परिवारों/समाजों में लिंग-सापेक्ष विषमताओं को मजबूतकर स्त्री को कमजोर किया जाता है वहीं कार्यस्थलों पर लिंग-निरपेक्ष समानताएं लादने से स्त्री के यौन-उत्पीड़न को शह मिलती है। 'मासूम' तर्क होता है कि स्त्री द्वारा हर क्षेत्र में बराबरी का दावा, कार्यस्थल पर उसके लिए पाजिटिव भेदभाव की दुहाई से मेल नहीं खाता। पर बराबरी है कहां? यदि घर/समाज में बराबरी हो तभी तो कार्यक्षेत्र में बराबरी चलेगी।

स्त्री को कमजोर रखने की ये स्थितियां, परिवार से कार्यस्थल तक, स्त्री को संभावित यौन-शिकार और मर्द को संभावित यौन-शिकारी बनाने की प्रणालियां भी हैं। लिहाजा, लैंगिक विषमताओं की आक्रामक दुनिया में, कार्यस्थलों को लिंग-सापेक्ष बनाये बिना, वहां यौनिक उत्पीड़न रोकने के कानूनों को कितना भी क्यों न कठोर कर दिया जाय, स्त्री के लिए वस्तुस्थिति जस की तस रहेगी। उपरोक्त उत्पीड़ितों के संघर्ष में वक्ती निदान का सबक अवश्य छिपा है - जैसे परिवार में वैसे ही कार्यस्थल पर भी, लिंग उत्पीड़न की बंद दुनिया के लोकतांत्रिक खुलासे से ही मीडिया हरकत में आता है और कानून को चाबी लगती है। स्त्री के पास फिलहाल तो यही उपाय है।

- विकास नारायण राय

(The writer, Shri V.N. RAI is former Director of National Police Academy, Hyderabad)